Gyanvividha [A Peer Reviewed and Refereed Journal] March 2024 : Year-1, Vol-2 : PP-06-11

ज्ञानविविधा
रचना, आलोचना और शोध की त्रैमासिक पत्रिका

Online ISSN : 3048-4537
March 2024 : 1(2)06-11
©2024 Gyanvividha
www.gyanvividha.com

डॉ. अंगद कुमार सिंह
असिस्टेण्ट प्रोफ़ेसर: हिन्दी
जवाहरलाल नेहरू पी.जी. कॉलेज,
बाँसगाँव, गोरखपुर (उ.प्र.),
भारत-273403

Corresponding Author :

डॉ. अंगद कुमार सिंह
असिस्टेण्ट प्रोफ़ेसर: हिन्दी
जवाहरलाल नेहरू पी.जी. कॉलेज,
बाँसगाँव, गोरखपुर (उ.प्र.),
भारत-273403

सन्त-परम्परा और कारीगर कबीर

'सन्त' शब्द की व्युत्पत्ति 'सत्' शब्द से मानी जाती है, जिसका अर्थ होता है- 'परमतत्त्व'। अतः 'सत्' को अपनी साधना का लक्ष्य बनाने वाले को 'सन्त' कहा जाता है। इस अर्थ में निर्गुणोपासक सन्तों को लिया गया है। प्रसिद्ध निबन्धकार और हिन्दी साहित्येतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काव्य को 'ज्ञानाश्रयी शाखा' कहा है तो उपन्यासकार और नवीन स्थापनाओं के प्रतिपादक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'निर्गुण भक्तिकाव्य' एवं आधुनिक एकांकी के जनक और हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक डॉ. रामकुमार वर्मा ने 'सन्तकाव्य' नाम से सम्बोधित किया। इस काव्यधारा के प्रमुख कवियों में कबीर, रैदास, नानकदेव, दादूदयाल, मलूकदास, सुन्दरदास, हरिदास निरंजनी आदि आते हैं। सन्तमत के प्रवर्तक कबीरदास थे। कबीर के गुरु का नाम रामानन्द था। अपने गुरु से प्राप्त भक्ति में कबीर ने नाथपन्थियों की योग-साधना तथा सूफ़ियों की प्रेमभावना को निहित कर 'सन्तमत' की स्थापना की।

सन्त-परम्परा के जितने भी कवि हुए लगभग सभी कोई न कोई कारीगरी का काम करते थे। कबीर एक जुलाहे थे, तो रैदास एक मोची, दादू एक सूत कातने वाले थे, तो नानक एक छोटे व्यापारी, नामदेव एक दर्जी थे तो तुकाराम एक निम्न जाति के व्यापारी। यहाँ हम सिर्फ़ कबीर पर विस्तार से विचार करेंगे। श्रम के महत्त्व को व्याख्यायित करते हुए कबीर कहते हैं कि- "श्रम से सब कुछ होत है, बिन श्रम मिले कुछ नाही।"

कबीर अपनी बात सीधे और सरल भाषा में जनता से रूबरू होते हुए कहते हैं कि, "कहे कबीर सुनो भाई साधो!" वर्तमान समय में उनके बानियों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और सभी संग्रहों में पाठभेद भी। पाठभेद होने के बावजूद जब वे

लोक-कलाकारों द्वारा जिस परिवेश व वातावरण में गाये जाते हैं, तो वहीं की भाषा और रंग में ढलकर सबका मन मोहकर दिलो-दिमाग पर छा जाते हैं। इसीलिए कबीर एक जलधारा-समान हैं जो सम्पूर्ण भारत और विश्व के पूरे समाज को भिगोकर सराबोर कर देती है। भारतीय समाज को करीब से जानने और समझने के लिए इस धारा में अवगाहन करना जरूरी है, एतदर्थ कबीर कह जाते हैं कि- "तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी।"

कबीर का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब संगठित धर्मों के अन्दर एक विद्रोह खड़ा हो रहा था और भारत में एक वैकल्पिक राजनैतिक-सामाजिक शक्ति अपनी जड़ जमा रही थी। 13वीं से 16वीं सदी में भारत के शक्तिशाली और बड़े राज्य अपने पतन की ओर उन्मुख हो रहे थे एवं कई प्रान्तीय और क्षेत्रीय राज्य उदित। दिल्ली सल्तनत तथा बौद्ध और जैन धर्म के काफी कमजोर होने के साथ ही फिर से रूढ़िवादिता का उभार हो रहा था। समाज में अपनी जगह स्थापित करने के लिए इस व्यवस्था ने जटिल संस्कार और अनुष्ठान पर और अधिक जोर देना शुरू कर दिया।

सन्तमतों की चिन्तनधारा पर विचार करने पर हमें यह देखकर सुखद आश्चर्य होता है कि सन्तों की विचार-पद्धति कितनी समन्वयकारी थी। इसमें एक साथ बौद्ध, जैन, सूफ़ी आदि मान्यताएँ इस प्रकार एक- दूसरे से घुली-मिली थीं कि इनको अलग करके देखा ही नहीं जा सकता था। कबीर ने इस नींव पर ऐसा धार्मिक भवन का बनाया जो धार्मिक कर्मकाण्ड, जाति-पाति और संगठित धर्म की मूल अवधारणा को अस्वीकार किया तो धर्म के कारोबार को पूरी तरह खारिज भी। वे स्पष्ट रूप से कह उठते हैं-

"कबीरा बन बन मे फिरा, कारणि आपणै राम।
राम सरीखा जन मिले, तिन सारे सब काम।" (बोधविचार)

यही नहीं, कबीर ने कमजोर और श्रमशील जनता की दृष्टि भी धर्म के कारोबार को खत्म करने का संकल्प लेकर उद्घोषणा कर जाते हैं कि-

"ना कुछ देखा राम भजन में, ना कुछ देखा पोथी में।
कहे कबीरा सुनो भाई साधो, जो देखा सो रोटी में।"

कबीर ने आज की नयी बाजारी संस्कृति में पल रहे लालच, शोषण और भूख का इतना तीखा विरोध किया कि उनका दर्शन एक स्पष्ट वर्गीय रूप लेते हुए उच्च जातियों, धार्मिक वर्चस्वशाली तबकों और अभिजात वर्ग और उनके समय की व्यवस्था के खिलाफ एक क्रांतिकारी रुख लेता नजर आता है-

"कलि का स्वामी लोभिया, मनसा धरी बधाइ।
दैंहि पईसा ब्याज कौं, लेखाँ करताँ जाइ।"[1]

यही वजह है कि कबीर को 'सन्त' होते हुए भी अभिजात वर्ग के द्वारा बहिष्कार और सामाजिक प्रताड़ना मिली तो करोड़ों श्रमशील जनता में लोकप्रियता। कबीर का जन्म बनारस में लहरतारा तालाब के आस-पास हुआ एवं नीरू और नीमा द्वारा पालित-पोषित हुए जो बुनकर थे और अपनी जीविका बुनकरी से चलाते थे, तो कबीर उस पेशे से अपने को कैसे बचा पाते? तत्कालीन समय में कबीर जिस समुदाय में रहे उसे जुलाहा कहा जाता था। 'जुलाहा' फ़ारसी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है- 'धागे का गोला'। जुलाहा समुदाय यानि बुनकर समुदाय। कबीर को श्रमशील व कारीगरी करने वाले लोगों के विचारक-कलाकार के रूप में स्वीकार करते हुए, उन्हें 'कारीगर कबीर' के रूप में देखा जा सकता है।

सर्वज्ञात है कि बनारसी कपड़ा उद्योग उस जमाने में एक ख़ास केंद्र के रूप में विकसित था। जब रेशम के कपड़े का चीन से मध्य-एशिया तक व्यापार होता था, तब भी बनारस इससे जुड़ा हुआ था। बनारस का कपड़ा, ख़ासकर रेशम का कपड़ा, कबीर के जमाने में भी विश्व-विख्यात था। व्यापार के सिलसिले में कपड़ा कारीगर और व्यापारी दूर-दूर तक आते-जाते और विभिन्न भाषाओं,

साहित्यिक शैलियों, संस्कृतियों, आध्यात्मिक मार्गों, धार्मिक मान्यताओं एवं सामाजिक व्यवस्थाओं के सम्पर्क में आते थे।

कबीर भी कारीगरों के बालक समान छोटे पर से ही कपड़ा-कारीगरी की शिक्षा ग्रहण करने लगे। प्रत्येक साधारण कामकाजी घर के बच्चे की तरह कबीर भी होश सम्भालते ही धंधे के लिए बाज़ार में आने-जाने लगे। वे कपड़ा बेचने के लिए बनारस से बाहर बिहार, मध्य प्रदेश, हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान आदि तक जाया करते थे। इस तरह कबीर के विचार हथकरघे पर समाज के लिए जरूरत का सामान बनाते हुए, उस सामान के लिए माल खरीदते हुए, बाजार के लिए माल तैयार करते हुए, उसे बाजार में बेचते हुए, और बाजार के भीतर समाज को देखते हुए बने तो उनकी 'पंचमेल' या 'सधुक्कड़ी' भाषा भी बाजार और व्यापार के मार्गों में। भारत में श्रमशील जनता का पक्ष लेने वाले प्रसिद्ध विचारक-कलाकार एक बुनकर थे, जो पोथी-किताब पढ़ने वाला नहीं बल्कि एक कारीगर!

कारीगर कबीर श्रमशील वर्ग को कुछ जड़ सिद्धान्त थमाने का काम नहीं किया बल्कि वे उन मजदूरों को उनकी खुद पर वो सम्प्रभुता वापस दे रहे हैं जो उनसे छीन ली गयी थी। किसी और के द्वारा तय किया गया 'धर्म' या 'ईमान' न रखने से पाप चढ़ेगा, नरक मिलेगा। इस तरह की सारी जोर-जबरदस्ती से परे कबीर कहते हैं-

"ज्यों तिल माहि तेल है, ज्यों चकमक में आग।
तेरा साईं तुझमें है, जाग सके तो जाग।"[2]

कबीर स्वामी-दास, मालिक-सेवक के वर्ग विभाजन को श्रमशील जनता के सम्मुख साफ शब्दों में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि- खाने, सोने, सुखी रहने वाला एक वर्ग है तो दूसरा जागने, रोने और दुखी रहने वाला। आगे भी वे कहते हैं कि मेहनत करने वाले लोगों को अपने आपस के इस गम-पीड़ा को पहचानना चाहिए और इसको संभाल के रखना भी। कोई कितना भी बड़ा सन्त-पीर-साधु-बाबा क्यों न हो, यदि वाह 'पर पीर' यानि दूसरे की पीडा़ को नहीं जानता, तो कबीर की नज़र में ऐसे बाबा-पीर जाहिल व अज्ञानी हैं-

"कबीरा सोई पीर है, जो जाने पर पीर।
जो पर पीर न जाने, सो का पीर में पीर।"[3]

कबीर अपनी रचनाओं में कई बार वर्ग-संघर्ष की बात करते हुए श्रमशील जनता को अपनी शक्ति का एहसास दिलाते हैं और मालिक वर्ग को चेतावनी भी। वे परिवर्तन को केवल जन्म-मरण से नहीं जोड़ते बल्कि सामाजिक परिवर्तन की लहर से होने वाली वर्गीय उथल-पुथल से भी जोड़ कर देखने का काम करते हैं एवं कह उठते हैं कि-

"दुर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।
मुई खाल की साँस सौं, सार भसम ह्वै जाय।"[4]

इन अनेक विचारों में सन्निहित क्रान्तिकारी पहलू से इनकार नहीं किया जा सकता है। अब प्रश्न है कि कबीर को हम कारीगर कबीर स्वीकार करें या एक क्रान्तिकारी कारीगर कबीर? जहाँ तक मेहनत करने वाले लोगों की बात है उनके लिए कबीर अपने हैं, उनके विचारों को जानने-समझने का सफर उनकी अपनी विरासत को खोजने का सफर है।

वर्तमान समय में देश में श्रमशील और अर्द्ध श्रमशील आबादी जिन्दा रहने के लिए जी तोड़ काम करते हुए में पिस रही है और पूँजीपति वर्ग के लोग देश के ही नहीं, विदेश की सबसे प्रतिक्रियावादी-रूढ़िवादी लोगों से सम्बन्ध स्थापित कर देश को गर्त में पहुँचाने का काम कर रहे हैं और श्रमशील जनता को आपस में लड़ाकर मानव और प्रकृति का दोहन करने से बाज नहीं आ रहे हैं। ऐसे समय में गरीब वर्ग के लोग पूँजीपति वर्ग की बँटवारे की राजनीति में फँस कर साम्प्रदायिक, जातीय, राष्ट्रीयता और लिंग आधारित नफ़रत और हिंसा में हिस्सा ले रहे हैं और कबीर को भूलते जा रहे हैं।

आज भारत में धार्मिक तनाव जोरों पर बढ़ता जा रहा है जिसके कारण जाति, धर्म, नस्ल, लिंग के आधार पर नफ़रत और हिंसा फैल रही है, अधिकतर लोग अब बेरोज़गार हो रहे हैं इसलिए उनमें असन्तोष की भावना बढ़ती जा रही है जिससे वे अपने को

समाज से अलग कर ले रहे हैं। ऐसी नाज़ुक स्थिति में कोई भी उनको छोटी सी लालच देकर अपने पक्ष में कर लेता है और अपना काम साधने के बाद 'यूज एण्ड थ्रो' से गुरेज़ नहीं करता और यदि वह थोड़ा-सा विरोध करता है तो उसे अनेक प्रकार का भय दिखाकर शान्त करने का प्रयास करता है, फिर भी यदि नहीं माना और एकदम विरोध पर उतर आता है तो उसे तुरन्त बड़ी आसानी से जेल की सिक्सों के पीछे डालने का काम करता है। ऐसा जब उसके साथ बिना किसी कारण के कोई करता है तो वे लोग आपा खो देते हैं। धार्मिक तनाव समाज और व्यक्ति के मन में उपस्थित तनाव की एक विकृत अभिव्यक्ति तो है ही उसके खिलाफ विद्रोह भी। धर्म आज भी श्रमशील जनता की जिन्दगी का हिस्सा है, यह जन-मानस में आज भी गहरे-पुराने घाव के समान विद्यमान हैं।

इंसान जन्म के बाद अगर ऐसी ज़िन्दगी जीने को मज़बूर हो जिसमें दिन-रात उसका शोषण होता हो, खुशी कभी-कभी आये और मुश्किलें रोज़, राहत कम हो और परेशानी अधिक, काम के घण्टे अधिक हों और क़ीमत कम, काम का बोझ इतना हो कि रोज़ की थकान मिटाने का मौका ही न मिले, जरूरतें ज्यादा हों व आमदनी कम, घर में खींच-तान, बाजार में लूट-खसोट बहुत ज़्यादा हो जाय एवं कीमतें उससे भी ज़्यादा तथा चिन्ता हो, डर हो, हिंसा हो तो ऐसे में मन जख्मी होने लगता है। ये जख़्म मानव अपने तक सीमित नहीं रख पाता बल्कि अपने परिवार, बच्चों, यार-दोस्तों पर इसका दर्द गुस्से के रूप में निकालता है। जख़्मों का ये लेन-देन पूरे परिवार, बिरादरी, समाज, देश में चलता रहता है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे चलता रहता है। इस तरह पूरा का पूरा जन-मानस जख़्मी हो जाता है। जब मन जख़्मी हो तो चैबीसो घण्टा व्यक्ति मुश्किलों के बारे में ही सोचता रहता है। एक दिन आयेगा जब वो अपने दुश्मन को पहचान लेंगे, जान जायेंगे कि उनकी मुश्किलों का कारण पूँजीपति वर्ग और उनके चेले-चपाटे राजनैतिक लोग हैं। ये जो पूरी व्यवस्था है श्रमशील वर्ग की मुश्किलों पर ही टिकी है। इसलिए पूँजीपति वर्ग बार-बार श्रमशील वर्ग को टोकता है, तंग करता है, भटकाता है, बेवकूफ बनाता है और उसके मन से खेलता है। उसे एक झूठा दुश्मन दिखाता है और ख़ुद को उसके 'मित्र' के रूप में दिखाने की कोशिश करता है।

आज भारत के मानव पर ज़िन्दा रहने का भारी बोझ है और उसको हल्का करने की बजाय उसके जख़्मों को कुरेदा जा रहा है। लोगों का गुस्सा एक-दूसरे पर निकल रहा है, वो रुक कर देख नहीं पा रहे कि आज जो हिन्दू-मुस्लिम की बातें कर रहे हैं, वो ख़ुद अपने लिए कैसे-कैसे ऐशों आराम के सिंहासन सजा रहे हैं।

वर्तमान में लोग वास्तविकता से वंचित होते जा रहे हैं। आज जिनके पास साधन है, शिक्षा तक पहुँच है, सत्ताधारी वर्ग से मिलान करते हैं वे ही इतिहास इकट्ठा कर रहे है, उसमें अपने मतलब की बातें अपने हिसाब से लिखकर मोटी किताबों में छपवा रहे हैं और ऐसा प्रचार कर रहे है कि यही सच्चा इतिहास है। जिसके पास साधन नहीं है वही श्रम करने वाला वर्ग है, वह लोककला, लोकसंस्कृति, लोकाध्यात्म, लोकविज्ञान और लोकदर्शन में अपने इतिहास को सुरक्षित करता है। इतिहास के बहुत ऐसे प्रमाण और भाण्डार हैं जो श्रमशील वर्ग में ही सुरक्षित और संरक्षित हैं। इन प्रमाणों और भाण्डारों को सत्ताधारी वर्ग हमेशा किनारे रखता है, दूरी बनाकर रहता है, इनके प्रति उदासीन रहता है। यदि मेहनत और श्रमशील वर्ग के मन में सँजोये हुए संघर्ष और सृजन की ऐतिहासिक याद को बचा कर रखना है तो इतिहास के इन प्रमाणों को संरक्षण देना होगा और इतिहास की उस पद्धति को मान्यता देनी होगी जो इन प्रमाणों पर आधारित है।

जब श्रमशील लोगों के इतिहास को तोड़ा मरोरा जाय और ऐतिहासिक प्रमाणों के साथ ताकतवर लोग, सत्ता के गलियारों में बैठे लोग हेर-फेर करने लगें, तब जनता की सामूहिक ऐतिहासिक स्मृति में दर्ज उन अध्यायों को याद करना, झंकझोरना जरूरी हो जाता है जिनके प्रमाण सत्ताधारी वर्ग की मुट्ठी में नहीं बल्कि श्रम करने वर्ग के मानस और जीवन में हों। जब सत्ता की कुर्सी पर बैठे लोग जन-मानस को बीमार करने लगे, तब ये एक सामूहिक मानसिक चिकित्सा का अंग हो जाता है।

कबीर भारतीय जनता की ऐतिहासिक स्मृति के एक ऐसे प्रमाण है जो न सिर्फ लोक-इतिहास, लोक-दर्शन, लोक-अध्यात्म,

लोक-कला पर रोशनी डालते हैं, बल्कि ये प्रमाण इस रूप में भी उपस्थित है जिसके आधार पर आज भी भारत के लोग कई अन्य सच्चे-झूठे ऐतिहासिक प्रमाणों के सत्य को परख सकते हैं। कबीर ऐसे में कह उठते हैं कि-

"कबीरा खड़ा बाजार में, लिए लुकाठी हाथ।
जो घर फूँके आपणो, चले हमारे साथ।"[5]

कबीर ने स्वयं कोई कविता नहीं लिखी बल्कि वे गाते थे और श्रमशील लोग उनको मन लगाकर खूब सुनते थे। अभिजात वर्ग उनको सुनने से कतराता था। लेकिन, समय के साथ कबीर के भजन इतने प्रचलित हुए कि एक-के-बाद-एक कई लोग कबीर के विचारों पर चल पड़े। कई अन्य विचारक भी कहीं लोक-कलाकार, कहीं लोक-सन्त, कहीं लोक-देवी-देवता के रूप में स्थापित होने लगे, संगठित धर्मों के विरोध में उपजा यह विद्रोह एक वैकल्पिक धार्मिक-सामाजिक व्यवस्था के रूप में वर्ग के आधार पर संगठित होने लगा, तब अभिजात वर्ग भी कबीर को अपनाने पर मजबूर हो गया। भारतीय साहित्य और इतिहास में इस पूरे विद्रोह को 'भक्ति आन्दोलन' के नाम से जाना जाता है।

जरूरी बात यह कि 'भक्ति आन्दोलन' की पूरी अवधारणा और व्याख्या में आज अध्यात्म का पहलू बहुत बड़ा है तो सामाजिक बदलाव का बहुत कम। कबीर का 'सन्त' रूप तो है, पर बुनकर कबीर, कारीगर, श्रमशील कबीर नज़र नहीं आते और क्रान्तिकारी कबीर तो जैसे गायब ही हो गये। फिर भी आज गरीब, दलित, अल्पसंख्यक, आदिवासी इलाकों में कबीर का सामाजिक स्वरूप ज़िन्दा है। श्रमशील आबादी ने स्व-इतिहास को अपने ढंग से संजोकर रखा है। जो लोग कबीर को सच में जानना चाहते हैं उनको इतिहास की पोथियों में कम और भजनों में ज्यादा ढूँढना होगा।

कबीर को जितना ढूँढते हैं, जितना उनमें पैठ बनाते हैं और जितना पाते हैं, उतनी ही गहरी बातें पता चलती हैं। ऊपर से देखेने पर कबीर धार्मिक पाखण्ड और आडम्बर, जाति और भेदभाव के खिलाफ एक विद्रोह का बिगूल फूकते नजा़र आते हैं। लेकिन जब गहराई में कबीर से रूबरू होते हैं तो पाते हैं कि कबीर बैठे-बिठाए ईश्वर, अल्लाह से मिला देते हैं, खुद से मिला देते हैं, सतलोक के दर्शन आँखों के सामने करवा देते हैं, जो अन्त में इसी दुनिया की वास्तविकता में आकर मिलता है, इसी हाड़-मांस के शरीर को लोक-काज में लगा देते हैं और ऐसा लगाते हैं कि मन्दिर-मस्जिद, व्रत-रोज़ा, तीर्थ-हज़ की जरूरत ख़त्म होने लगती है और पण्डित-मौलवी भी धर्म-मजहब के व्यापार से मुक्ति पाकर अपने प्रभु और खुदा को भक्तों-बन्दों में पा लेते हैं।

ऊपर से देखने पर लगता है कि कबीर सभी लोगों के बराबर पक्षधर हैं, लेकिन गहराई में झाँकने से साफ हो जाता है कि वो श्रमशील जनता के विचारक-कलाकार हैं। ऊपर से लगता है कि कबीर शोषक के दबाव बनाने वाले, बलप्रयोग करने वाले रूप से अनभिज्ञ हैं, पर कुछ भजनों को सुनते हैं तो देखते हैं कि कबीर अपने अधिकारों और सम्प्रभुता पर हमले का सामना विचारों के हथियार से करते हैं-

"हाथी के इंसाफ से मैंने बाघ को घेरा रे
इसी को फिरता ढूँढता मैं बन-बन में पुकारूँ रे
सत्त का समसीर हाथ में मार बैठूँगा रे।"

कामगारों में प्रचलित भजनों के कबीर उस वक्त के आध्यात्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक जीवन की विस्तृत और बारीक तस्वीर प्रस्तुत करते हैं तो उनकी आलोचना भी। एक शक्तिशाली लोक-दर्शन प्रस्तुत करते हैं तो आज के वक्त में पहुँच कर जड़ भी नहीं होते, बल्कि आज के वक्त को समझने, विश्लेषण करने और परिवर्तन करने के लिए विकसित लोक-दर्शन के सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं।

कबीर का क्रान्तिकारी स्वरूप यह नहीं है कि 'वे उनके समय से आगे थे', बल्कि यह है कि उन्होंने अपने समय से उत्पन्न होने

वाले अन्तरविरोधों को लोक-दर्शन की माला में पिरो कर भारतीय श्रमशील जनता को एक ऐसा औजार दिया जिससे वो अपने जीवन की छोटी-बड़ी उलझनों का उचित विश्लेषण कर सकें, इस दर्शन को खुद अपने समय, अनुभव, विचारों और भाषानुसार विकसित कर सकें एवं निर्भीकता से अपने विचारों को खूबसूरत और प्रभावशाली ढंग से समाज के सामने प्रस्तुत कर सकें। यही हैं श्रमशील जनता के विचारक-कलाकार कबीर!

"तत्व की तलवार कर लो, मन की कटार जी
शबदां री ढाल कर लो, गोली दागो ज्ञान की
हर-हर मरूँगा निशानो साधू चोट है असमान की।"

कबीर कारीगर वर्ग को जोड़ने की धारा समान हैं। आज कारीगरी करने वाले लोगों को धर्म, जाति, नस्ल, जनजाति, लिंग, क्षेत्र, राष्ट्रीयता के नाम पर बाँटने का काम किया जा रहा है तो कबीर का कारीगर रूप और अधिक प्रासंगिक हो जाता है।

सन्दर्भ :

1. स्रोत :-https://lyricspandits.blogspot.com/2021/09/kali-ka-swami-lobhiya-hindi-meaning.html?m=1
2. हिन्दीवार्ता, 10-05-2020
3. वही
4. चौहान डॉ. रनसिंह, कबीर वाणी सौरभ, पृष्ठ 4, महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा, 2035 वि.
5. स्रोत:-https://hi.quora.com/%E0%A4%95%E0%A4%AC%E0%A5%80%E0%A4%B0%E0%A4% BE% E0%A4%96%E0%A4%A 1%E0%A4%BC%E0%A4%BE-%E0%A4%AC%E0%A4%BE% E0%A4%9C%E0%A4%BE%E0%A4%B0-%E0%A4%AE%E0% A5%87%E0%A4%82-%E0%A4% B2%E0%A4%BF%E0%A4%8F